जनसत्ता

27 जून, 2019

सेहत की सूरत

जनता को स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने के मामले में देश के दो राज्यों बिहार और उत्तर प्रदेश की हालत सबसे ज्यादा खराब है। चौंकाने वाली और शर्मनाक बात यह है कि स्वास्थ्य के क्षेत्र में इन दोनों राज्यों की स्थिति सुधरने के बजाय बिगड़ती जा रही है। इसका ताजा प्रमाण बिहार में इन्सेफलाइटिस से डेढ़ सौ से ज्यादा बच्चों की मौत है। नीति आयोग ने मंगलवार को देश के इक्कीस राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों की जो स्वास्थ्य सूचकांक रिपोर्ट जारी की, उसमें यह हकीकत सामने आई है। नीति आयोग ने यह सूचकांक विश्व बैंक और केंद्रीय स्वास्थ्य परिवार कल्याण मंत्रालय के साथ मिल कर बनाया है। सबसे बेहतर स्थिति केरल की है। दूसरे स्थान पर आंध्र प्रदेश, तीसरे पर महाराष्ट्र, चौथे पर गुजरात और पांचवें पर पंजाब है। जबकि अंतिम पांच स्थानों पर उत्तराखंड, ओड़ीशा, मध्य प्रदेश, बिहार और उत्तर प्रदेश हैं। यह रिपोर्ट 2017-18 के कामकाज के आकलन को ध्यान में रख कर बनाई गई है। उत्तर भारत के बड़े राज्यों जैसे मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, बिहार में तो स्वास्थ्य सेवाएं एकदम चौपट हैं। जबकि दक्षिणी राज्यों- केरल, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु इस क्षेत्र में अच्छा काम कर रहे हैं। केंद्र शासित राज्यों में चंडीगढ़ पहले नंबर है तो दिल्ली पांचवें पर।

सवाल है कि जब राज्य खुद बीमार होंगे तो जनता कैसे स्वस्थ होगी! बिहार और उत्तर प्रदेश में इन्सेफलाइटिस का प्रकोप कोई नया नहीं है। दोनों राज्यों में पिछले कुछ सालों में इस बुखार से मरने वाले बच्चों का आंकड़ा हजारों में है। लेकिन इन दोनों ही राज्यों ने इन्सेफलाइटिस से निपटने के लिए कुछ खास नहीं किया। इसका मूल कारण यह है कि खासतौर से गरीब और वंचित तबकों के मामले में सरकारें एकदम लापरवाह हैं। पटना और लखनऊ जैसे शहरों में स्वास्थ्य सेवाएं खस्ताहाल हैं, लोगों को इलाज के लिए दिल्ली भागने को मजबूर होना पड़ता है। जनपदों का तो और भी बुरा हाल है। ज्यादातर जगहों पर अस्पताल तो हैं, पर जर्जर हालत और गंदगी के शिकार हैं। उनमें पानी-बिजली नहीं है। डॉक्टर हैं, पर काम नहीं करते, ऑपरेशन थिएटर हैं तो संक्रमित। दवाइयों की खरीद-आपूर्ति में भ्रष्टाचार जगजाहिर है। इन दिनों मुजफ्फरपुर जिले के अस्पताल की हालत तो पूरे देश ने देखी। केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय की टीम ने तो एक अस्पताल को मूल्यांकन लायक भी नहीं पाया। सिर्फ बिहार, उत्तर प्रदेश ही नहीं, मध्यप्रदेश, उत्तराखंड, राजस्थान जैसे राज्यों में भी सरकारी स्वास्थ्य सेवाएं ऐसी ही दम तोड़ती हालत में हैं। दूसरी ओर निजी अस्पताल चांदी काट रहे हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं कि राज्यों में स्वास्थ्य सेवाएं चौपट करने में सबसे बड़ी भूमिका सरकारों की है। स्वास्थ्य क्षेत्र के लिए राज्यों का अपना भारी-भरकम बजट होता है, लेकिन हालात बता रहे हैं कि यह पैसा स्वास्थ्य क्षेत्र पर खर्च होने के बजाय कहीं और चला जा रहा है। एक भी अस्पताल ऐसा नहीं है जो विश्व स्वास्थ्य संगठन की ओर से निर्धारित मानकों को पूरा करता हो। अगर स्वास्थ्य क्षेत्र पर सरकारें ईमानदारी से पैसा खर्च करतीं तो आज लोगों को इलाज के लिए दर-दर भटकना नहीं पड़ रहा होता, सैकड़ों बच्चे इन्सेफलाइटिस से नहीं मरते, बड़ी संख्या में बच्चे कुपोषित नहीं होते! दरअसल, स्वास्थ्य, शिक्षा, पेयजल जैसी बुनियादी जरूरतें राज्य सरकारों की प्राथमिकता में हैं ही नहीं। दिल्ली तो राजधानी है, वहीं स्वास्थ्य सेवाएं बदतर हालत में हैं, एम्स जैसे विख्यात संस्थान में मरीजों की भीड़ और महीनों का इंतजार हालात बयान करने के लिए काफी है। जब तंत्र ही बीमर होगा तो जनता कैसे स्वस्थ्य रहेगी? क्या इस मसले पर केरल जैसे राज्यों से ही सीख नहीं ली जा सकती?

दिखावे का रोग

हालांकि भारतीय समाज में यह प्रवृत्ति आम है कि लोग हर संभव तरीके से दूसरों के सामने अपने ऐश्वर्य के प्रदर्शन का मौका ढूंढ़ते रहते हैं। कमोबेश यह समाज के हर तबके के बीच पाई जाती है, भले ही इसमें दिखावे का स्तर आर्थिक सीमा से तय होता हो। लेकिन जब कोई व्यक्ति या परिवार अपने अकूत धन-ऐश्वर्य के बूते यह प्रदर्शित करने की कोशिश करता है कि उसे दुनिया के सबसे अमीर लोगों में शुमार किया जाए तो यहीं इस प्रवृत्ति के मूल पर गौर करना जरूरी हो जाता है और इसके औचित्य पर सवाल उठते हैं। उत्तराखंड के चमोली जिले के औली में पिछले हफ्ते आयोजित एक विवाह समारोह के सुर्खियों में आने के बाद यह सवाल लाजिमी है कि एक व्यक्ति के पास निजी शौक पूरे करने के अधिकार हो सकते हैं, लेकिन क्या उसके असर की पूरी तरह अनदेखी की जा सकती है! गौरतलब है कि दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीय कारोबारी गुप्ता बंधु के रूप में मशहूर अजय गुप्ता और अतुल गुप्ता के बेटों के विवाह समारोह के आयोजन में करीब दो सौ करोड़ रुपए खर्च किए गए। इसमें एक पहलू जहां ऐश्वर्य के दिखावे का है, वहीं समारोह के बाद विवाह-स्थल और उसके आसपास बड़े पैमाने पर फैल गए कूड़े-कचरे को लेकर भी तीखे सवाल उठे हैं।

हालांकि इस आयोजन की घोषणा के बाद से ही स्थानीय पर्यावरण पर इसके असर को लेकर चिंता जताई जा रही थी और इस पर रोक लगने के लिए नैनीताल हाई कोर्ट में जनहित याचिका भी दायर की गई थी। मगर देर हो जाने की वजह से अदालत ने इस पर रोक लगाने से इनकार कर दिया। समारोह के खत्म होने के बाद वहां फैले कचरे की सफाई में नगरपालिका को जिस तरह मशक्कत करनी पड़ी, उससे साफ है कि इस मसले पर जताई जाने वाली आशंकाओं पर सरकार को गौर करना जरूरी नहीं लगा। नगरपालिका ने अपनी ओर से भारी पैमाने पर कूड़ा-कचरा हटाया और सफाई पर होने वाले खर्च को गुप्ता बंधुओं से वसूलने की बात कही है। मगर सवाल है कि जिन इलाकों में पर्यावरण संरक्षण के लिहाज से कड़े नियम-कायदे लागू हैं, उसमें महज दिखावे के मकसद से किए जाने वाले ऐसे आयोजन की अनुमति देना कितना सही है!

सरकार का मानना है कि ऐसे आयोजन से इलाके को 'वेडिंग डेस्टीनेशन' यानी विवाह समारोह के आयोजन के लिए आकर्षक स्थल के रूप में विकसित करने में मदद मिलेगी। लेकिन अगर इसका विस्तार औली सहित इसके समूचे बुग्याल क्षेत्र में होता है तो स्थानीय पर्यावरण पर इसके असर का अंदाजा भर लगाया जा सकता है। यह ध्यान रखने की जरूरत है कि महज एक परिवार के आयोजन के बाद वहां सैकड़ों क्विंटल कूड़ा-कचरा जमा हो गया था। यह किसी से छिपा नहीं है कि जिनके पास किसी तरह से जमा अथाह धन है, उनमें से बहुत सारे लोगों के भीतर दिखावे की कैसी बेलगाम प्रवृत्ति देखी जाती है। हाल के वर्षों में विवाह समारोहों पर सैकड़ों करोड़ रुपए बहा कर ज्यादा से ज्यादा दिखावा या धन-ऐश्वर्य का प्रदर्शन करना एक रोग की तरह फैला है। जिनके पास वैध-अवैध तरीके से जमा किया गया अकूत पैसा मौजूद है, उनकी आर्थिक सेहत पर कोई असर नहीं पड़ता। लेकिन इसके प्रदर्शन का सामाजिक असर इस रूप में भी पड़ता है कि जिनके पास कम धन होता है, वे भी बिना यह सोचे इस होड़ में शामिल होने की कोशिश करते हैं कि इसका उनकी आर्थिक सेहत पर क्या असर पड़ेगा। सवाल है कि दिखावे के इस रोग की सीमा क्या है और क्या कभी सरकारों को इसके सामाजिक-आर्थिक नतीजों पर गौर करने की जरूरत लगती है!

कल्पमेधा

शक्ति द्वारा शत्रु पर विजय प्राप्त करना अधूरी जीत है।

– मिल्टन

त्रिभाषा सूत्र की चुनौतियां

धर्मेंद्र प्रताप सिंह

त्रिभाषा सूत्र तभी कारगर सिद्ध हो सकता है जब हिंदी भाषी क्षेत्र अन्य भारतीय भाषाओं को सम्मान देना शुरू करेंगे। इसके लिए उन्हें कम से कम एक या इससे अधिक ऐसी अन्य भारतीय भाषाओं को जानने की जरूरत है जो दूसरे प्रांत में बोली जाती हों। साथ ही, दक्षिण भारत के साथ-साथ उत्तर-पूर्व की भाषाओं की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

किसी राष्ट्र या समाज के लिए धर्म, संस्कृति और भाषा बहुत ही अहम और संवेदनशील मुद्दे होते हैं। ये राष्ट्र की अस्मिता का प्रतीक माने जाते हैं। भाषा भावों की अभिव्यक्ति और विचार-विनिमय का माध्यम होती है। यही कारण है कि भाषा धर्म और संस्कृति दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसमें कदापि संदेह नहीं कि स्वभाषा के माध्यम से ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास संभव है। हमारे देश में धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज, खानपान, रहन-सहन, वेशभूषा, भाषा, बोली आदि में भौगोलिक क्षेत्र के आधार पर भिन्नता पाई जाती है। आजादी के बाद से ही राष्ट्र भाषा के मुद्दे पर क्षेत्रीय हितों और तुच्छ स्वार्थों को लेकर तकरार होती रही है और इसका फायदा निरंतर अंग्रेजी को मिलता आ रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि और एक विदेशी भाषा हमारी सिरमौर बन गई। किसी भी स्वाभिमानी राष्ट्र के लिए यह चिंता का विषय होना चाहिए।

भारत में अनेक भाषाएं और बोलियां प्रचलन में होने के कारण देश को एकता के सूत्र में बांधने की जद्दोजहद निरंतर होती रही है। इसीलिए त्रिभाषा सूत्र अपनाने का सुझाव रखा गया। त्रिभाषा सूत्र भाषा शिक्षण की ऐसी नीति है जिसे सभी राज्यों से गंभीर विचार-विमर्श के उपरांत 1968 में संकल्पित किया गया था। इससे पूर्व 1963 में राजभाषा अधिनियम में यह निर्णय लिया गया था कि जब तक सभी राज्य लिखित रूप में अंग्रेजी हटाने के लिए स्वीकृति न दें, तब तक अंग्रेजी व हिंदी में कामकाज होता रहेगा। इस दिशा में 1976 का राजभाषा अधिनियम मील का पत्थर साबित हुआ, जिससे हिंदी की स्थिति थोड़ी बेहतर हुई।

नई शिक्षा नीति में त्रिभाषा सूत्र के पालन की बात करते ही राजनीतिक हलकों में इसकी प्रतिक्रिया विरोध के रूप में मिलने लगी। जबकि इसमें कोई नई बात नहीं कही गई है। इसके पहले भी यह नीति बनी थी जो लागू नहीं हो सकी। इसके अंतर्गत प्रावधान है कि प्रत्येक हिंदी भाषी प्रांत को एक दक्षिण भारतीय भाषा सीखनी होगी। अक्सर आरोप लगता रहा है कि अहिंदी भाषी प्रांत तो काफी कुछ त्रिभाषा सूत्र का पालन करते हैं, लेकिन हिंदी पट्टी के लोग इससे पूर्णतया विमुख हैं। तमिलनाडु पुनः इसका विरोध करते हुए हिंदी को अपने ऊपर थोपने की बात कह रहा है।

भाषा का संबंध मानव के हृदय पक्ष से है। अभी इसका यही समाधान दिखाई दे रहा है कि हिंदी भाषी क्षेत्रों को त्रिभाषा सूत्र अपने क्षेत्र में लागू करने का प्रयास करना चाहिए। यह बात गौर करने लायक है कि यदि हम दूसरी भाषा सीखने के लिए नहीं तैयार हैं तो अन्य हमारी भाषा को क्यों सीखेंगे? यदि हम किसी दूसरी भाषा को सीखते हैं और उसका सम्मान करते हैं तो निश्चय ही आने वाले समय में हमारी भाषा को सम्मान मिलेगा। देश की एकता और अखंडता के लिए संपूर्ण राष्ट्र में एक भाषा का होना बहुत आवश्यक है। लेकिन राज्यों के आपसी कलह की वजह से आज दिन तक यह संभव नहीं हो पाया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने हिंदी का पक्ष इसलिए लिया, जिससे देश को एक सूत्र में पिरोया जा सके और विदेशी शासन के खिलाफ हम मजबूती से खड़े हो सकें। इसमें हमें सफलता भी मिली और लंबी पराधीनता के बाद हम स्वाधीन हुए।

राजभाषा अधिनियम, 1976 में भाषायी आधार पर भारतीय राज्यों को क, ख और ग क्षेत्रों में बांटा गया है। 'क' क्षेत्र के अंतर्गत बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड, उत्तराखंड, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, अंडमान निकोबार और दिल्ली आता है। 'ख' क्षेत्र में गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, चंडीगढ़, दमनदीव और दादर नगर हवेली रखे गए हैं। शेष राज्य- आंध्र प्रदेश, अरुणाचल प्रदेश, असम, बंगाल, कर्नाटक, केरल, गोवा, नगालैंड, ओड़िशा, मेघालय, मणिपुर, मिजोरम, तमिलनाडु, तेलंगाना और त्रिपुरा 'ग' क्षेत्र के अंतर्गत शामिल किए गए हैं। राजभाषा अधिनियम के आधार पर 'क' क्षेत्र में आने वाले प्रांतों में कोई भी पत्र व्यवहार हिंदी में किया जाएगा और यदि किसी कारणवश अंग्रेजी में भेजा जाता है तो उसका हिंदी अनुवाद भी आवश्यक होगा। 'ख' क्षेत्र में पत्र व्यवहार सामान्यतः हिंदी में होगा। यदि कोई पत्र अंग्रेजी में भेजा जाएगा तो उसका हिंदी अनुवाद भेजना होगा। 'ग' क्षेत्र में पत्र अंग्रेजी में भेजा जाएगा और यदि कोई पत्र हिंदी में भेजा जाता है तो उसका अंग्रेजी अनुवाद भेजना आवश्यक है। संविधान के अनुच्छेद 351 में हिंदी के प्रचार-प्रसार की जिम्मेदारी केंद्र सरकार को दी गई है।

हिंदी पट्टी में त्रिभाषा सूत्र को अपनाना आसान नहीं है। कारण यह है कि हिंदी पट्टी तीसरी भाषा के रूप में किसको अपनाए, जबकि संविधान में बाईस भाषाओं जगह मिली हुई है। इनमें से किसी एक भाषा को चुनना उनके लिए बहुत बड़ी चुनौती है। इसके अतिरिक्त सरकार को तीसरी भाषा सिखाने के लिए शिक्षण संस्थाओं में नए योग्य शिक्षकों की नियुक्ति करनी पड़ेगी, जो निकट भविष्य में संभव नहीं है। दूसरा उपाय यह है कि तकनीक के माध्यम से व्यापक स्तर पर भाषा सिखाने का काम हो। लेकिन हिंदी पट्टी तकनीक के मामले में भी बहुत पीछे है जो हम सभी के समक्ष कड़ी चुनौती है।

त्रिभाषा सूत्र में मातृभाषा को सबसे ऊपर रखना भी समस्या है। हिंदी भाषी क्षेत्र में मातृभाषा की बात आते ही वे उप-बोलियां अपना सिर उठाने लगती हैं जिनके पांव पर हिंदी का अस्तित्व टिकता है। प्रश्न यह भी है कि मातृभाषा के अंतर्गत भोजपुरी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, राजस्थानी, मेवाती, बांगरू आदि में से किसे पढ़ाया जाएगा? इनमें से कई ऐसी बोलियां हैं जिनका पाठ्यक्रम तक उपलब्ध हो पाना मुश्किल है। जो विद्वतजन हिंदी को भाषा न मान कर उप-बोलियों का समुच्चय मानते हुए इसे अनदेखा करते हैं, उन्हें चीन से सीखने की जरूरत है जहां की भाषा मंदारिन में सत्तर उप-भाषाएं शामिल हैं। यदि चीन और जापान अपनी भाषा को लेकर प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं तो भारत के समक्ष ऐसी समस्या क्यों आ रही है? इस तथ्य पर तब तक विचार किए जाने की आवश्यकता है जब तक कोई स्थायी समाधान नहीं निकल आता।

हिंदी देश में सर्वाधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा है और वैश्विक स्तर पर इसकी पहचान बन चुकी है। लेकिन जहां तक सरकारी नौकरियों का सवाल आता है तो गैर हिंदी भाषी प्रांत अपने को सुरक्षित करने के लिए हिंदी का विरोध करते हुए अंग्रेजी का पक्ष लेते हैं जो देश की एकता और अखंडता के लिए सबसे ज्यादा घातक है। पिछले बहत्तर वर्षों से हम इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं। इससे कोई भी असहमत नहीं हो सकता कि बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में होनी चाहिए।

आज का दौर भूमंडलीकरण का है। पूरी दुनिया में साठ हजार के आस-पास भाषाएं अस्तित्व में हैं और ऐसा माना जा रहा है कि आने वाले समय में नब्बे फीसद भाषाएं लुप्त हो जाएंगी। भाषाओं के संकट के दौर में हिंदी अपने को बचाने में कामयाब रहेगी। यह हिंदी के लिए खुशी की बात हो सकती है। लेकिन प्रत्येक पढ़े-लिखे वर्ग का यह दायित्व बन जाता है कि वह अपनी मातृभाषा को आने वाली पीढ़ी के लिए सहेज कर रखे। ऐसे में यदि क्षेत्रीय और अहिंदी प्रांत की भाषाएं अपने अस्तित्व की चिंता कर रही हैं तो इसमें क्या गलत है? त्रिभाषा सूत्र तभी कारगर सिद्ध हो सकता है जब हिंदी भाषी क्षेत्र अन्य भारतीय भाषाओं को सम्मान देना शुरू करेंगे। इसके लिए उन्हें कम से कम एक या इससे अधिक ऐसी अन्य भारतीय भाषाओं को जानने की जरूरत है जो दूसरे प्रांत में बोली जाती हों। साथ ही, दक्षिण भारत के साथ-साथ उत्तर-पूर्व की भाषाओं की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। दृढ़ इच्छाशक्ति और ईमानदार प्रयास ही इसे सफल बनाया जा सकता है। यदि इसे रोजगार से जोड़ा जाए तो बेहतर परिणाम की उम्मीद कर सकते हैं।

संवादहीनता के मंच

अमिता तिवारी

दुनिया मेरे आगे

सूचना, संप्रेषण और संचार का दायरा आज कितना व्यापक हो चुका है, यह किसी से छिपा नहीं है। दरअसल, अब यह हमारी जीवन-चर्या का हिस्सा बन गया है। इसकी शुरुआत शायद एक उदात्त उद्देश्य के तहत हुई थी कि अधिक से अधिक लोग एक दूसरे से जुड़ सकें, एक दूसरे के विचारों के बारे में जान सकें और जानकारी का विस्तार हो। एक हद तक सोशल मीडिया अपने इस उद्देश्य में सफल भी है। आज दुनिया का ज्यादातर हिस्सा फेसबुक, इंटरनेट, इंस्ट्राग्राम और वाट्सऐप के जरिए जुड़ चुका है। हम घर बैठे अमेरिका में बैठे अपने मित्र या संबंधी को अपनी दिनचर्या के बारे में बताते हैं, फोटो भेजते हैं, वीडियो पर भी एक दूसरे से बात कर लेते हैं, कितनी सारी सूचनाएं दे देते हैं। लेकिन अब ऐसा लगने लगा है कि सामाजिकता की जिस नींव पर सोशल मीडिया का भवन खड़ा था, वह नींव कहीं धसक गई है और ऐसे में भवन का भरभरा कर गिरना स्वाभाविक है।

आज सामाजिकता के नाम पर सोशल मीडिया द्वेष और लोगों के बीच दूरी की भावना फैलाने का बड़ा जरिया बन रहा है। एक मानसिकता और विचारधारा वाले लोगों के गुट बन गए हैं जो केवल जहर उगल रहे हैं, जिससे समाज विषाक्त हो रहा है। एक घटना कहीं घटती है, उसे तोड़-मरोड़ कर सोशल मीडिया पर पेश किया जाता है और उसकी तह में जाने की बजाय लोग उसे सही समझ कर मर-मिटने को तैयार हो जाते हैं।

पुरानी कहावत है कि किसी ने कह दिया कि कौवा कान ले गया तो लोग अपना कान न देख कर कौवे के पीछे भागने लगते हैं। आज यही सोशल मीडिया पर भी देखा जा सकता है। एक आदमी एक पंक्ति की पोस्ट डालता है और उससे असहमत होने वाले लोग गालियों की बौछार कर देते हैं। ऐसा ही दूसरी ओर से भी होता है। इससे हमारा समाज कौन-सी सामाजिकता सीख रहा है? इससे कौन-सी सद्भावना बढ़ रही है, कौन-सी मानवीयता पल्लवित, पोषित हो रही है? सच तो यह है कि सोशल मीडिया अब अभिव्यक्ति के नाम पर अनर्गल प्रलाप का माध्यम बन गया है।

सोशल मीडिया का उद्देश्य तो आपसी भाईचारा और मेलजोल बढ़ाना था, लेकिन आज परिवार और समाज में अकेलेपन की प्रवृत्ति बढ़ रही है। अगर घर में चार सदस्य हैं तो शाम को दफ्तर से आने के बाद चारों अलग-अलग दिशाओं में बैठ कर अपने-अपने स्मार्टफोन में व्यस्त हो जाते हैं। एक दूसरे से बातचीत में उन्हें वह आनंद नहीं आता जो फेसबुक और वाट्सऐप पर आता है। यानी इसने हमारे पारिवारिक और सामाजिक रिश्तो में संवादहीनता की स्थिति उत्पन्न कर दी है।

आज घरों में हंसी के ठहाके और बहस की आवाजें गायब हो गई है। हर व्यक्ति अपने आप में अकेले बैठना चाहता है और यह अकेलापन ही तनाव, अवसाद, मानसिक विकृति को बढ़ाता है, जिसका शिकार हमारा युवा वर्ग हो रहा है। पहले व्यक्ति अवसाद से घिरता था तो परिवार के सदस्यों और आत्मीय मित्रों से अपना दुख बांटता था और कई बार गंभीर स्थितियों से वह सकुशल निकल भी जाता था। मगर आज आत्मीयता की वह डोर टूट गई है। इस वजह से किशोरों और युवाओं में आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ़ रही है। ब्रिटेन में युवाओं पर हुए एक शोध के मुताबिक जो युवा सोशल मीडिया पर ज्यादा काम करते हैं, वे खुद पर ज्यादा दबाव तो महसूस करते ही हैं, साथ ही वे सामाजिक रूप से भी दूसरों से कटे रहते हैं।

यह चिंताजनक है कि सोशल मीडिया का बुरा प्रभाव बच्चों पर भी पड़ रहा है। एक शोध के मुताबिक दस साल तक के जो बच्चे सोशल मीडिया पर रोज एक घंटे से ज्यादा समय बिताते हैं, उनमें किशोरावस्था में दिमागी परेशानी का खतरा बढ़ जाता है। किशोरों में बढ़ती अक्रामकता, उद्दंडता, मूल्यहीनता और हिंसक प्रवृत्ति का एक कारण यह भी है कि सोशल मीडिया पर वे सब जानकारियां भी मौजूद हैं जो बच्चों को एक उम्र के बाद ही मिलनी चाहिए।

विद्वानों का कहना है कि समय से पहले अधकचरा ज्ञान विनाश का कारण है। यह हमारे समाज में हो रहा है। हम अखबारों में पढ़ते हैं कि चार साल या छठी कक्षा के बच्चे अनुचित आचरण करते हैं। सच यह है कि इस उम्र के बच्चों को उचित और अनुचित का अर्थ ही नहीं पता होता। वे जैसा देखते हैं, वैसा ही आचरण करते हैं। ऐसी स्थिति में गलत आचरण के लिए वह बच्चा नहीं, बल्कि समाज दोषी है, जिसने वह अधकचरा ज्ञान उसे उम्र से पहले दे दिया। आज अभिभावक अपने छोटे बच्चों को मोबाइल फोन पकड़ा कर यह बताने में गौरवान्वित महसूस करते हैं कि मेरा बच्चा अभी दो साल का है, लेकिन मोबाइल चला लेता है... यूट्यूब खोल लेता है। लेकिन इसका असर या हासिल क्या है?

चौपाल

अमानवीय करतूत

महाराष्ट्र के बीड जिले में पिछले तीन साल में साढ़े चार हजार से ज्यादा महिला मजदूरों के गर्भाशय इस कारण निकाल दिए गए कि उनकी माहवारी बंद हो जाए और इस तरह उनके बार बार छुट्टी लेने के कारण गन्ना कटाई का कार्य बाधित न हो। फर्स्ट पोस्ट की 16 जून, 2019 की एक रिपोर्ट बताती है कि 2018 में बीड की जिन दो सौ महिलाओं का सर्वेक्षण किया गया था, उसमें से बहत्तर महिलाओं के गर्भाशय निकाल दिए गए थे। बीड प्रशासन के अनुसार गर्भाशय निकालने के लिए शल्य ग्यारह अस्पतालों में की गई थी और पिछले डेढ़ साल में हुए कुल ऑपरेशनों के पिच्यासी फीसद ऑपरेशन निजी अस्पतालों में हुए।

वैसे बीड जिले के सिविल सर्जन की अध्यक्षता में बनी एक समिति ने इस प्रकरण में निन्यानवे निजी अस्पतालों की संलिप्तता का उल्लेख किया है। समिति के अनुसार जिन महिलाओं का गर्भाशय निकाला गया है उनमें कई महिलाएं ऐसी भी हैं जो गन्ना कटाई के कार्य से संबंधित नहीं हैं। श्रम कानूनों को कमजोर कर निजीकरण को बढ़ावा दिए जाने के इस दौर में असंगठित मजदूरों का शोषण अमानवीय रूप लेता जा रहा है। असंगठित महिला मजदूरों के साथ होने वाले अत्याचारों की दास्तान और भी भयानक है।

पुरुष प्रधान समाज में परिवार के भीतर और बाहर कार्यस्थल में इनके साथ होने वाला भेदभाव यह दर्शाता है कि इन्हें केवल एक साधन के रूप में देखा जा रहा है जिससे मनमाना काम लिया जा सके, मुनाफा कमाया जा सके, किसी मशीन के कलपुर्जों की भांति उसके महत्त्वपूर्ण अंगों के साथ इस प्रकार की छेड़छाड़ की जाए कि वह बिना रुके ज्यादा श्रम कर सके और जब वह अनुपयोगी हो जाए तो उसे अनुपयुक्त घोषित कर खारिज कर दिया जाए। महिला श्रमिकों के शोषण का यह ताजा वाकया महाराष्ट्र में सामने आया है। महिलाओं को रजोधर्म के दौरान अवकाश देने की मांग लंबे समय से की जाती रही है। इस संबंध कुछ याचिकाएं भी लगाई गईं, किंतु मामला किसी परिणाम तक नहीं पहुंचा।

● *प्रियंबदा, गोरखपुर*

जनसंख्या का विस्फोट

हाल में संयुक्त राष्ट्र के आर्थिक एवं सामाजिक मामले के विभाग की ओर से जारी रिपोर्ट के मुताबिक भारत 2027 तक आबादी के मामले में चीन को पछाड़ देगा। भारत की जनसंख्या में 2050 तक 27.3 करोड़ की वृद्धि हो सकती है। इसके साथ ही भारत शताब्दी के अंत तक दुनिया में सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश बना रह सकता है। अगर आबादी रोकने के लिए कदम नहीं उठाए गए तो इसके दुष्प्रभाव कई गुना बढ़ जाएंगे जो विनाशकारी साबित होंगे। देश में बढ़ती जनसंख्या के मुकाबले संसाधनों की कमी है, इसलिए देश को जनसंख्या-जनित दुष्प्रभावों का सामना करना पड़ रहा है। बढ़ती आबादी की वजह से भारत कई समस्याओं से घिर रहा है। जैसे- गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी में वृद्धि, पेयजल की समस्या, आवास की समस्या, अर्थव्यवस्था पर बोझ आदि। एक मोटे अनुमान के मुताबिक देश में रोजाना लगभग बीस करोड़ लोग खाली पेट सोते हैं और सत्तर करोड़ से अधिक लोग गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन कर रहे हैं। कुपोषण के कारण रोजाना तीन हजार बच्चों की मौत हो रही है। देश की करीब पंद्रह फीसद आबादी कुपोषण की शिकार है। शहरों में दस करोड़ करोड़ लोगों के पास पीने को पानी नहीं है। ग्रामीण इलाको में सत्तर फीसद लोग प्रदूषित पानी पी रहे हैं। दिल्ली, मुंबई, बंगलुरू, हैदराबाद सहित इक्कीस शहरों में 2020 तक भूमिगत जल समाप्त हो जाएगा, जबकि 2030 तक भारत में पानी की खपत दोगुनी हो जाएगी। और जब ऐसे में पानी की मांग बढ़ेगी तो क्या हालत होगी? सवाल है कि अगर सरकार ने जनसंख्या पर काबू पाने के लिए तत्काल कोई ठोस कदम नहीं उठाए, कोई नीति नहीं बनाई तो हालात बेकाबू होते देर नहीं लगेगी।

● *निशांत महेश त्रिपाठी, नागपुर*

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

किसान का सम्मान

किसान सम्मान के पहले तो ऐसे किसानों की पहचान की जानी चाहिए जो खेती के अलावा अन्य कोई कार्य नहीं करते, जिन्होंने अपना कर्ज स्वयं चुकाया, कभी बिजली-पानी बिलों के साथ कर्जमाफी नहीं कराई, न कभी खेतों में पराली जलाई है। संविधान-कानून का आदर व पालन कर कभी किसी आंदोलन में रेल-सड़कें जाम कर सार्वजनिक संपत्ति को आग के हवाले नहीं किया, न मनचाहे भाव के अभाव में कृषि उत्पाद व दूध सड़कों पर बहाया। ऐसे ईमानदार कर्मठ ,कठोर परिश्रमी किसान ही सम्मान व सम्मान-निधि के पात्र हैं और होने चाहिए।

दूसरी ओर कई छद्म किसान जिसमें रिश्तेदारों सहित फार्महाउसों के मालिक, नेता-अभिनेता तक शामिल हैं जो करविहीन कृषि आय के लोभ में कृषि भूमि स्वामित्व तो रखते हैं, पर स्वयं अन्य उद्योग धंधे, व्यवसाय, नौकरी आदि कर दूसरे मजदूरों से खेती करा कर कृषि लाभ ले रहे हैं। इनके साथ बेईमान, मुफ्तखोर,आलसी-अकर्मण्य चिन्हित लोग सम्मान नहीं दंड के पात्र हैं। एक बार पुनः प्रश्न है कि क्या कर्जमाफी कराने, पराली जलाने, आंदोलनों में हिंसा, कृषि उपज सहित दुग्ध उत्पाद सड़कों पर नष्ट करने वाले किसानों को भी किसान-सम्मान मिलेगा?

● *सार्थक ताम्बट, इंदौर*

असुरक्षित स्त्री

भारत दुनिया का तेजी से तरक्की करता देश है। लेकिन भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति आज भी दयनीय है। महिलाओं को लेकर की जाने वाली हिंसा की खबरें रोजाना ही पढज्ने को मिल जाती है। घरेलू हिंसा के आंकड़े भी चिंताजनक हैं। जाहिर है, आज भी समाज का एक बड़ा तबका महिलाओं के अधिकारों की अनदेखी करता है और उन्हें पुरुषों के समान अवसर प्रदान नहीं करता। लोगों के ऐसे ही सोच से समाज में दिन-प्रतिदिन महिलाओं पर अत्याचार, बलात्कार व शोषण की वारदाते बढ़ रही हैं। इसलिए आज के समाज की आवश्यकता है कि महिलाएं अपने अधिकारों के प्रति स्वयं जागरूक हों और समाज के सामने एक ऐसा खाका प्रस्तुत करें जिसमें महिलाएं पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिला कर चलें और एक नए समाज का निर्माण करें।

● *मनीषा चौरसिया, डीएसजे, दिल्ली विवि*